Pratidhwani the Echo
A Peer-Reviewed International Journal of Humanities & Social Science
ISSN: 2278-5264 (Online) 2321-9319 (Print)
Impact Factor: 6.28 *(Index Copernicus International)*
Volume-IV, Issue-II, October 2015, Page No. 52-58
Published by Dept. of Bengali, Karimganj College, Karimganj, Assam, India
Website: http://www.thecho.in

धर्म एवं मानववाद : एक समीक्षा

(हिन्दू धर्म के विशेष संदर्भ में)

Dr. Ranjeet Kumar Tiwary
Assistant Professor, Sanskrit Department, Women's College, Silchar, Assam

Abstract

Dharma is a philosophical concept of India. In Bharatiya Dharma or Hinduism include characteristics such as truthfulness, nonviolence, spirituality, tolerance, ethics, self, family-life, social life, humanity etc. Hinduism is not just the religion but the real method of teaching the Self. Dharma which means a way of life based on universal values of humanism. Dharma implies a rich value-system. Values in individual and social life cannot be understated. Without moral values a man cannot achieve a higher position in the society. Society and even a nation cannot be called a civilised without human values in true sense of the term. As we all aware about Hinduism, it has number of ways to proof the existence of Humanism depending on Sanskrit scriptures, mythology etc. In the present paper, it has been tried to identify the concept and nature of Humanism in Sanskrit scriptures and mythology.

Key words- Dharma, Hinduism, Humanism, Tradition, Unity, Values, God, Self, Nation

धर्म एवं मानववाद विषय पर विचार समकालीन भारतीय समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है शायद इसलिये भी कि भारतीय चिन्तन परम्परा में धर्म तथा मानवता का अत्यन्त ही घनिष्ट संबन्ध है। धर्म का तो विभिन्न अर्थो में प्रयोग हुआ है तथा ये प्रयोग कभी–कभी अत्यन्त विविक्त पदार्थों को प्रस्तुत करते है। भारतीय संविधान में भी धर्म पद का प्रयोग किया गया है किन्तु पद अपने समग्र अर्थ में प्रयुक्त न हो करके एकाङ्गी अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। परिणामतः इस पद में एक अर्थसंकोच है और इस अर्थसंकोच के कारण पद अपनी अर्थवत्ता खो देते हैं।

इस प्रश्न का एक पहलू यह भी है कि धर्म को जहां भारतीय परम्परा का शब्द समझा जाता है मानववाद को पश्चिमी परम्परा में विकसित पद के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह दृष्टि मानती है कि दोनो ही पद अपनी – अपनी सांस्कृतिक परम्परा में समान अर्थों का ग्रहण करते हैं और समान अर्थभूमि होने के कारण इनको एक ही धरातल पर विचार की दो भिन्न सांस्कृतिक दृष्टि के रूप में समझा जाना चाहिये। किन्तु यह भी सत्य है कि हिन्दू धर्म जो प्रकृति पूजा में विश्वास करता है जिनके भगवान नदियों, पहाडो, वृक्षों, सर्पों, चराचर प्राणियों आदि में भी बसते है क्या वे मानववादी नहीं हैं ? उत्तर है – हैं, तो फिर हमारे मन में परस्पर घृणा, भय आदि क्यों ?

हिन्दू धर्म के विशेष संदर्भ में मानववाद का विश्लेषन करते हुए प्रस्तुत शोध–पत्र में यह अध्ययन करने की चेष्टा की गयी है कि –

- धर्म पद के प्रयोग से किन अर्थों का ग्रहण होता है ?
- मानववाद के प्रयोग से गृहीत होने वाली अर्थभूमि क्या धर्म से संबन्धित है ?
- क्या दोनो ही पद समानार्थक हो सकते है ?
- यदि दोनों समान अर्थभूमि के पद नहीं हैं तो क्या दोनों एक दूसरे के प्रति कोई योगदान देकर उसे और अधिक मूल्यवान बना सकते हैं ?
- यदि ऐसा संभव है तो उसकी रचना कैसे हो सकती है ?

भक्ति धर्म की सामान्य प्रकृति है। दैवीय स्वस्ति की प्राप्ति के लिये भक्त अपने इष्टदेव या देवी की पूजा अर्चना करते हैं। उनकी कामना एवं विश्वास होता है कि पूजा–अर्चना के माध्यम से ही वे आध्यात्म–सुख, सुमति एवं अपने को सुरक्षित रख सकते हैं। सर्वशक्तिमान जगन्नियन्ता ईश्वर के प्रति प्रीति या भक्ति, भक्त के मन में प्रस्फुटित होता है जब वह चिन्तन करता है- मैं कौन हूँ ? मै कहाँ से आया हूँ ? यहाँ मेरा क्या कार्य है ? किसने इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना किया है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर तत्त्व–चिन्तन की अपेक्षा करते हैं। मन्त्र है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पतिरेक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[1]

यहाँ देव कौन है ? उत्तर प्राप्त होता है– हिरण्यगर्भ ही देव है, ईश्वर है।

विष्णुपुराण में कहा गया है –

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः।।[2]

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्ययस्य ईश्वरः।।[3]

अर्थात् इन दोनो से अन्य ही है, जो तीनो लोको मे प्रवेश करके सबका धारण–पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा – इस प्रकार कहा गया है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽअर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।[4]

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि प्रजापति ही ब्रह्म है, परमेश्वर की स्वरूपता अधोलिखित मंत्र में स्पष्ट रूप में उच्चरित किया गया है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्यस्तद्वायुस्तद चंद्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्त्प्रजापतिः ।।[5]

अर्थात् वही अग्नि देव है, वही सूर्य है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है क्योकि इस जगत् का रचयिता वही प्रजापति है और उसी में उसका लय होता है अतः वही सर्वरूप है उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। भाष्य करते हुये आचार्य शङ्कर ने कहा – तद् ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा तदापः स प्रजापति विराडात्मा। अर्थात् वही ब्रह्म हिरण्यगर्भ स्वरुप है, वही जल है तथा विराट् रूप प्रजापति है।[6]

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सृष्टि से संदर्भित एक प्रसंग मे मानव सृष्टि विस्तार हेतु पुरुष वीर्य की स्थापना के लिये शक्ति स्वरूपा स्त्री की सृष्टि कर संतानोत्पत्ति के लिये स्त्री जननाङ्ग का भी निर्माण किया।[7] प्रजापाति ने ऐसा इसलिये किया ताकि धर्म सम्मत पवित्र मैथुन क्रिया के द्वारा सृष्टि का विस्तार हो सके। अत एव हम कह सकते है कि प्रजापति ही आदि स्रष्टा तथा विश्व नियन्ता है। पुनः उसी प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि के पश्चात् कर्मों के साधनभूत यागादि की रचना किया – प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे।[8]

महर्षि अरविन्द कहते है कि भारतीय संस्कृति यह मानती है कि आत्मा ही हमारे सत्ता का सत्य है और हमारा जीवन आत्मा की एक अभिवृद्धि और विकास है वह सनातन अनन्त, परम एवं सर्व को देखती है, वह इसे सब कुछ के निगूढ सर्वोच्च आत्मा के रूप में देखती है जिसे ईश्वर कहते हैं और मनुष्य को वह प्रकृतिगत परमात्मा की इस सत्ता की अंशभूत आत्मा एवं शक्ति के रूप में देखती है। इस आत्मा की ओर इस परमेश्वर, विराट, सनातन एवं अनन्त की ओर मनुष्य की शान्त चेतना को प्राप्त होना, यही भारतीय विचार धारा के निकट जीवन का गुढार्थ है और यही मानव जीवन का लक्ष्य है।[9]

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कहा– क्या भारत मर जायेगा ? तब तो संसार की सारी आध्यात्मिक शक्ति का समूल नाश हो जायेगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायेगी, सारी भावुकता का लोप हो जायेगा और उसके स्थान पर कामरूपी देव एवं विलासिता रूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रताडना, पाशविक बल और प्रतिद्वंदिता ये ही उनकी पूजा पद्धति होगी और मानवता उनकी बली सामग्री हो जायेगी। ऐसी दुर्घटना कभी भी हो सकती है।[10]

धर्म शब्द अत्यन्त ही व्यापक अर्थ वाला है, इससे पदार्थ के व्यापक गुण विशेष प्रकृति के आधारभूत नैतिक नियम, कर्तव्य, संस्कार, विधि–निषेध नीति–नियम, परमसत्ता आदि विषय भी अभिव्यक्त होते हैं। धर्म शब्द की परिभाषाओं एवं व्याख्याओं के संदर्भ में कहा गया है – 'धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'[11] अर्थात् जो धारण करता है। यहां धारण करने से तात्पर्य है सम्पूर्ण जगत् एवं जागतिक नियमों एवं समाज (प्रजा) की एकता को जीवन्त स्वरूप देना है। अर्थात् मनुष्य के उस आचार – विचार को धर्म कहते हैं जिसके द्वारा इसका वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण होता है, सुख बढता है, एक व्यवस्था उत्पन्न होती है।[12] मनुष्य मात्र तीस धर्मो के लक्षणों को मानव धर्म के परिप्रेक्ष्य में उल्लेख करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, आत्म–निरीक्षण, बाह्य–इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदृष्टि, सेवा, दुराचार, से निवृत्ति, लोगों की विपरीत चेष्टाओं के फल का अवलोकन, मौन, आत्मविचार, प्राणियों को यथायोग्य अन्नदानादि, समस्त प्राणियों में विशेष करके मनुष्यों में आत्मबुद्धि – इष्टदेव–बुद्धि, महात्माओं के आश्रयभूत भगवान के गुण–नाम आदि का श्रवण–कीर्तन, स्मरण, सेवा, यज्ञ, नमस्कार, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन ही श्रेष्ठ धर्म है।[13] वही मनुस्मृति मे धर्म के दस लक्षणो का ही उल्लेख

मिलता है – धैर्य, क्षमा, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, बुद्धि, सत्य एवं अक्रोध जो वास्तव मे विश्व मानव धर्म की हर कसौटी पर खरा उतरता है।

वास्तविक धर्म वैयक्तिक एवं सामाजिकता दोनो से संबद्ध होते है। वह इन दोनो के समन्वयकारी आचरणात्मक जीवन दर्शन की नियामक शक्ति है जिससे मानव स्वभाव की श्रेय एवं प्रेय की अभिव्यक्ति को गति मिलती है। वयक्ति का सम्पूर्ण जीवन एक अविच्छिन्न इकाई है। धर्म के द्वारा वयक्ति का सम्पूर्ण शक्तियों एवं ज्ञान का उपयोग कर एक ऐसे पूर्ण और सहज मानवोचित जीवन पद्धति के विकास पर बल दिया जाता है जो भौतिक एवं मानसिक शक्तियों के रूप में जीवन के सर्वाङ्ग सुन्दर विकास और समाज निर्माण में उपयोगी होता है।

समकालीन दार्शनिकों के युग में भारत दासता के यातनापूर्ण जीवन जीने के लिये विवश था। सर्वत्र भूख, निर्धनता, अशिक्षा, कुसंस्कार का बोलबाला था। तत्कालीन युग के मनीषि चिन्तकों ने अपने देश को कालजयी शाश्वत स्फुर्तिदायक चिन्तन की पृष्ठभूमि को आधार बनाकार राष्ट्रीय एवं आन्तर्राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हुए समन्वित चिन्तन का अनुठा मार्गदर्शन करते हुए मानववाद की प्रतिष्ठा की। अपनी मानववादी दृष्टि के कारण स्वामी दयानन्द ,रविन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गान्धी ने शिक्षा कि ऐसी योजनायें प्रस्तुत की जिनमें मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक व्यक्तिगत एवं सामाजिक, नैतिक और धार्मिक बहूमुखी विकास हो सके तथा वह सही अर्थ में अपने को सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी के रूप में प्रस्तुत कर सके।[14]

भारतीय परम्परा को केन्द्रित कर धर्म के विषय में विचार किया जाय तो धर्म मानव, समाज और शेष समस्त लोक के बीच सम्बन्धों के नियमन की विधि है, प्रणाली है। यह सिर्फ़ मानव के बीच ही नहीं अपितु मानव और लोक, लोक और लोक के बीच गठबन्धन है, यह जड और चेतन का अपेक्षित मूल्याङ्कन है और इस मूल्यांकन के अनन्तर सर्वग्राही जीवन विधि का निर्धारण है। भारतीय परम्परा में धर्म, सत्य और ऋत के गठबन्धन से प्रवाहित होता है। यह आचरण का निर्धारण है इसलिये गीता मे सकल धर्माधर्मों से परे अधिष्ठित स्थितप्रज्ञ को भी लोक संग्रह के भाव से अनुप्राणित हो कार्य करने का निरपेक्ष आदेश दिया गया है। कभी भी लोक की उपेक्षा कर कोई भी धर्म खडा नही होता। अतः भारतीय परम्परा धर्म विहित काम और धर्मनियन्त्रित अर्थ को सामाजिक न्याय का आधार मानते हुए मानव धर्म के रूप में धर्म को प्रतिष्ठित करता है। सामाजिक न्याय सर्वदा सामाजिक प्रतिमान, अनुमोदनमूलक एवं आदेशात्मक होता है।

अतः मानवीय मूल्यों की भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिये न्याय को धर्म के आश्रय की आवश्यकता पडती है। धर्म साधन रूप में नैतिकता तो है किन्तु यह ऐसी कठोर नैतिकता नहीं है जिसमें मनुष्य के अतिरिक्त अन्य का विचार संभव नहीं हो इसी प्रकार साध्य के रूप में यह न्याय है किन्तु अन्तर्मानव संबन्धों के कठोर भित्ति में बन्धा हुआ न्याय न होकर वह उदात्त अवधारणा है जो निःश्रेयस् में प्रतिफलित होती है। यह जड, चेतन, स्थावर, जङ्गम सबके संबन्धों में उचित विवेक पूर्ण समत्व का प्रतिस्थापन है। धर्म की दृष्टि में सम का अर्थ बराबरी नहीं है, अनुकूलता है अर्थात् जो सबके अनुकूल है। मानव और प्रकृति, मानव और पशु, मानव और मानव इन सबके बीच अलग–अलग और एक साथ यथावत और सामञ्जस्यपूर्ण जीवन–विधि को निर्धारित करता है, वही धर्म है, उसी के आधार पर अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों ही सम्भव है।

समाज दर्शन के क्षेत्र में मानववाद वैदिक काल से समकालीन युग तक व्यक्ति और समाज की सर्वाङ्गीन प्रगति को ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार करता है। एकात्म मानववाद व्यक्तिगत सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में मनुष्य की सर्वाङ्गीण प्रगति को अपना लक्ष्य मानता है। भारत के विश्वबन्धुत्व तथा वसुधैव कुटुम्बकम के आदर्श इसी सामाजिक लक्ष्य की पुष्टि करते हैं। आर्थिक क्षेत्र में यह आदर्श उत्पादक एवं उपभोक्ता के हितों का समन्वय करता है।

महात्मा गान्धी ने कहा था “ मैं हिन्दुत्व को सत्य धर्म मानता हूं परन्तु इस्लाम तथा ईसाइयत भी सत्य के धर्म हैं। आपके दृष्टिकोण से ईसाइयत सत्य हैं। मेरे दृष्टिकोण से हिदुत्व सत्य है। सभी धर्मों का सार एक है केवल उनका दृष्टिकोण ही भिन्न हैं। ऋग्वेद में कहा गया कि जिस तरह देवगण स्व–मर्यादा तथा तदनुरूप कर्तव्यों को जानकर उपासना करते है, समीप रहकर कार्य करते है, उसी प्रकार मनुष्य भी समीप रहकर, समान गति करे, समान बोले अर्थात् उन्नति का प्रयत्न करे, भेद–भाव विमूख होते हुये एक मन, बुद्धिवाले बने। परस्पर समान ढंग से मनोगत भावों को जानने का प्रयास करें। व्यक्तिगत विचारों को सर्वोपरि समझकर दूसरे के लिये कष्टदायक न बने। प्रत्येक कार्यों को अनुशासनपूर्वक करे। इस आशय का मन्त्र अधोलिखित है –

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनान्सि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजनानाम् उपासते ।।[15]

पुनः वेद का उपदेश प्राप्त होता है– तुम सबके विचार, संघटन, मन और चित समान हो, यज्ञ में सबके साथ हवि डालो, तुम सबका अभिप्राय समान हो, हृदय समान हो, मन समान हो, जिससे तुम अच्छी प्रकार से रह सको। मन्त्र अधोलिखित है–

समानो मन्त्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेतेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुहासति।।[16]

वैदिक मनीषियो ने महावाक्य सामने रखा – ‘सर्वे खल्विदं ब्रह्म’। अर्थात् निश्चयपूर्वक यह सब ब्रह्म ही है। यजुर्वेद मे कहा गया–

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[17]

अर्थात् हे मानव ! इस विशाल परिवर्तनशील विश्व में जो कुछ भी गतिविधि है, उस सब पर परम पिता परमेश्वर का नियन्त्रण है, वरदानस्वरुप हमें प्राप्त हुआ है। जिसपर समस्त प्राणियों के अपने – अपने भाग है अतः दूसरे के हिस्से पर लालच मत करो। चैतन्य महाप्रभु ने तो यहाँ तक कहा कि तृण से भी अपने आप को छोटा मानकर, वृक्ष से भी अधिक अपने आप को अधिक सहिष्णु रहते हुये, स्वयं सम्मान से दूर तथा दूसरों का सम्मान करते हुए सदा ही परमात्मा का स्मरण करते हुए अपना जीवन–यापन करे।

मेरे विचार से धर्मों में व्यष्टि से परमेष्टि तक की इकाईया खण्ड–खण्ड रूप में न होकर परस्पर अविच्छिन्न एवं पूरक है। व्यष्टि (व्यक्ति), समष्टि (परिवार, समाज, सृष्टि) और परमेष्टि (परमसत्ता, विश्वात्मा) – ये सभी

घनिष्ट रूप संबद्ध हैं। अतः इन विभिन्न इकाईयों में कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक इकाई अपना पृथक् अस्तित्व भी रखती हैं पर प्रत्येक अपने विकास क्रम में सातत्य से उदात्तता की ओर अग्रसर है। धर्मों में व्यक्ति केन्द्र–बिन्दु होते हुये भी उसका महत्त्व परिवार, समाज, समुदाय, विश्व–सृष्टि और परमेष्टि अर्थात् परमसत्ता के परिप्रेक्ष्य में ही है। वह इन सब तत्त्वों या इकाईयों से गुजरते हुए चेतनागत एकता को उपलब्ध होता है। इसके आधार पर ही वह चेतनात्मक समभाव अथवा समानता का अनुभव करता है। अतः मूलतः व्यक्ति एवं मानवता का संबन्ध खण्ड–खण्ड अर्थात् विभक्त न होकर अविभक्त रूप में है। यह विकास जीवन पर एकाङ्गी/ एकपक्षीय न होकर गतिशील, सामञ्जस्यपूर्ण, समग्र जीवन की – समभाव से सर्वग्राही व्यापक, आत्मविस्तृत प्रक्रिया के रूप में है।[18]

सम्पूर्ण समाज के समस्त उत्तम गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाले एकात्म मानव का स्वरुप स्वतः प्राप्त करने का आग्रह करना चाहिये। हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे सामुहिक चेतनायुक्त जीवन पुनः निर्मित हो तथा कर्मशील सामुहिक परिणामवाद के संबन्ध में आशन्कित हुआ मानव 'देवयन्तः नरः' का चरित्र समाजरुप मे प्रकट करता हुआ दिखाई दे। हमारा यह उत्तरदायित्व है कि समाज मे 'मैं एक विन्दु, परिपूर्ण सिन्धु है यह सारा मानव समाज' जैसा यथार्थ चित्र उपस्थित करते हुये अपने चरित्र अर्थात् आदर्श व्यवहार द्वारा सम्पूर्ण विश्व को शिक्षित करें।[19]

आज धार्मिक विश्वास का वास्तविक स्वरुप एवं उसके व्यावहारिक पक्ष को जानने, समझने की आवश्यकता है। धर्म में निहित मानववाद को सामने ध्येय के रूप में रखने के लिये आज आवश्यकता इस बात की है–

क. निष्पक्ष रूप से सभी धर्मों के उच्चत्तर आदर्शो को निःसंकोच आदर किया जाय जिससे धार्मिक सहिष्णुता की वृद्धि होगी एवं मानववाद की विजय होगी।

ख. आज के इस वैश्वीकरण के युग में धार्मिक संकीर्णता का समूल नाश हो, व्यष्टि से समष्टि की यात्रा प्रत्येक मानव के द्वारा प्रारम्भ हो।

ग. मानव से मानव के मन का जुडाव हो, मेल, प्रीति एवं सौहार्द हो।

घ. व्यावहारिक वेदान्त अध्ययन–अध्यापन का विषय बने।

ङ. धार्मिक विश्वास उन्माद का रूप न ले सके, सरकार एवं राजनेता विशेष ध्यान रखे।

च. धर्मनेताओं से सरकारे समान दूरी बनाकर रखे।

छ. जैसा कि हम सब जानते हैं, हर धर्मावलंबी अपनी–अपनी मान्यताओं को लेकर कभी–कभी मिथ्या अहंकार प्रदर्शित करते हैं जो टकराव का मूख्य कारण होता है।

ज. विपरीत विचारों के प्रति भी आदर भाव रखना आवश्यक है।

झ. अपने धर्म के प्रति निष्ठा, अपने धर्म के आदर्शों का अध्ययनपूर्वक व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र जीवन को आत्मसात् करने की आवश्यकता है। वैदिक ऋषि ने कहा – राष्ट्रे जागृयाम। अतः अपने आप को मात्र एक धार्मिक पुरुष बनाने के अपने को राष्ट्र जीवन में समर्पित करने की आवश्यकता है।

धर्म हमें सीखाता है कि मनुष्य प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है, विकसित हुआ है एवं उसी का अङ्ग है। भारतीय मानववादी संस्कृति यह स्वीकार करती है कि मानव स्वयं स्वतन्त्र एवं रचनात्मक चिन्तन तथा क्रिया

के द्वारा अपनी समस्याओ के समाधान में समर्थ है। उसका लक्ष्य इसी जीवन में व्यक्तिगत, राष्ट्रीय, अन्तारराष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक प्रगति प्राप्त करना है। इस क्रम में व्यक्ति और परिवार, परिवार तथा राष्ट्र, राष्ट्र एवं मानवता और अन्त में मानवता तथा प्रकृति का कल्याण परस्पर पूरक हैं क्योकि मानववाद सर्वाङ्गीण विकास की अवधारणा है।[20] सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय की भावना से ग्रसित हमारे मनीषि उद्घोष करते हैं–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।।

<u>*संदर्भ सूची*</u>

---

[1] ऋगवेद, 10/121/1 ; यजुर्वेद, (वा. सं.), 13/4, 23/1, 25/10 ; अथर्ववेद, 4/2/7

[2] विष्णुपुराण, 6/5/86

[3] श्रीमद्भगवद्गीता, 15/17

[4] श्रीमद्भगवद्गीता, 18/61

[5] श्वेताश्वतर उपनिषद, 4/2

[6] वही, शांकरभाष्य

[7] बृहदारण्यक उपनिषद्, 6/4/2

[8] वही, 1/5/14

[9] अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, पृ. सं. – 189

[10] विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–9 , पृ. सं. – 377

[11] महाभारत, कर्ण पर्व, 58/69

[12] सत्यभक्त स्वामी, सत्यामृत – दृष्टिकाण्ड, पृ. सं. – 135–136

[13] श्रीमद्भागवत पुराण, 7/11/8–11

[14] परामर्श (हिन्दी), खण्ड 21, अङ्क 4, सितम्बर–नवम्बर, 2000, पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ.सं.– 67

[15] ऋग्वेद, 10/191/2

[16] ऋग्वेद, 10/191/3–4

[17] यजुर्वेद, 40/1

[18] अरविन्द, महर्षि, दिव्य जीवन, पृ. सं. – 220

[19] आप्टे उमाकान्त केशव, भारतीय समाज चिन्तन, जागृति प्रकाशन, नोएडा, 1990, पृ.–49

[20] परामर्श (हिन्दी), खण्ड 21, अङ्क 4, सितम्बर–नवम्बर, 2000, पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ.सं. – 66